ज्ञानविविधा
रचना, आलोचना और शोध की त्रैमासिक पत्रिका

Online ISSN : 3048-4537
July-September 2024 : 1(4)01-04
©2024 Gyanvividha
www.gyanvividha.com

श्री विनोद कुमार झा

सेवानिवृत प्रधानाध्यापक, सीतामढ़ी, बिहार

Corresponding Author :

श्री विनोद कुमार झा

सेवानिवृत प्रधानाध्यापक, सीतामढ़ी, बिहार

प्राचीन भारत में शिक्षा-व्यवस्था

भारत में शिक्षा का प्रसार अति प्राचीन काल में हो गया था । यहाँ के मनीषियों ने विशाल साहित्य का निर्माण किया । भारत में शिक्षा का अर्थ केवल किताबी ज्ञान से नहीं था बल्कि शिक्षा सर्वांगीण विकास का साधन थी । शिक्षा के द्वारा मानव का बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के साथ ही जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' की ओर भी उन्मुखीकरण होता था । हमारे पूर्वज यह कामना करते थे – "धियो योनः प्रचोदयात्" अर्थात् "इश्वर, बुद्धि को सन्मार्ग की ओर लगाओ" ।

हमारे प्राचीन ऋषि बुद्धि को प्रखर बनाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते हैं –

"यां मेघां देवगणा: पितरश्चोपासते

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनंकुरु ।"

आयु, प्राण, धन, तेज को प्राप्त करने को कामना व एतदर्थ उसके लिए स्तुति करने की कामना प्राचीन काल से ही रही ।

"तेजोऽसि तेजोमयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यमयि धेहि ।

बलमसि बलंमयि धेहि, सहोऽससि सहोमयि धेहि ।"

इतना ही नहीं शिक्षा का आदर्श-"सत्यं शिवम् सुन्दरम्" से युक्त विश्व कल्याण की कामना भी थी । ब्रह्म को प्राप्ति के लिए शिक्षा दी जाती थी-

"ब्रह्मतल्लक्षयमुच्यते; तपसाचीयदे ब्रह्म"

ब्रह्म प्राप्ति के लिए यम नियमों का पालन आवश्यक था :-

यम:-तत्राऽहिंसा " सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमः ।"

नियम:- "शौच संतोषस्तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानाति नियमः ।"

प्राचीन भारतीय शिक्षा में धार्मिक तत्वों की प्रधानता थी, बालक गुरुकुल में रहकर शिक्षा पाते थे ।

टी. एन. सिक्वरा ने लिखा है:-

"शिक्षक को यह पढ़ाना पड़ता था कि वह कैसे प्रार्थना एवं यज्ञ करे और किस प्रकार अपने जीवन की अवस्था के अनुरूप अपने कर्तव्यों को पूरा करे।"

चरित्र को उच्च बनाये रखना उस समय का आदर्श था:- " अक्षीणे वितत: क्षीणो वित्तस्तु इतो हत:।" चरित्र निर्माण के लिए धर्म ग्रंथ का अध्ययन, सत्यभाषण, आत्म-संयम, इन्द्रिय निग्रह, ब्रह्मचर्य व्रत आदि का पालन अनिवार्य था। मनुस्मृति में कहा गया है – "उन वेदों के विद्वानों से जिनका जीवन पवित्र नहीं है, वह व्यक्ति कहीं अच्छा है जो सच्चरित्र है परन्तु वेदों का कम ज्ञान रखता है।"

ज्ञानार्जन के लिए श्रद्धावान होना आवश्यक था। कहा गया – "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।" श्रद्धा के सम्बन्ध में वेद में इस प्रकार वर्णित है :- " व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्, दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते"

मनु ने कहा – "आचार्य का उत्पादक पिता से अधिक महत्त्व है, उत्पादक पिता ने जन्म प्रदान किया है, परंतु आचार्य ही मानव का पूर्ण और पवित्र निर्माण करता है।"

शिष्य वनप्रान्त में गुरु के साथ 'गुरुकुल' में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनयन संस्कार के बाद 8 वर्ष की उम्र में बालक को गुरु के घर शिक्षा प्राप्ति हेतु भेज दिया जाता था। गुरुगृह में रहकर पढ़ने वाले छात्र को 'अन्तेवासिन' या 'गुरुकुलवासी' कहा जाता था। पिता से पढ़ने वाले 'पितुरन्तेवासी' कहलाते थे।

रविन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है :-"भारतीय संस्कृति का निर्माण नगरों में नहीं बल्कि वन प्रान्तीय आश्रमों में ही हुआ था।"

'गुरुकुलों' पर राज्य या शासन का नियंत्रण नहीं था। स्वयं गुरु ही सर्वेसर्वा होते थे।

वैदिक शिक्षा केवल वेदज्ञ ही नहीं बनाती थी अपितु, धर्म, दर्शन, यज्ञ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष, तंत्र-विद्या आदि के साथ समस्त लौकिक सामग्री एवं व्यवहार की भी शिक्षा देती थी। सैद्धांतिक शिक्षा के साथ व्यावहारिक (क्रियात्मक) शिक्षा पर बल देकर छात्रों का शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं सर्वांगीण विकास करती थी। डॉ. अल्तेकर ने लिखा है :-

"वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य अनेक विषयों का साधारण ज्ञान प्रदान करना नहीं था बल्कि उसका आदर्श विभिन्न क्षेत्रों में दक्ष बना देता था।" गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा था। स्वाध्याय का विशेह महत्त्व था। 'शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ' में स्वाध्याय को 'ब्रह्मयज्ञ' कहा गया है। शिक्षा सार्वजनिक और नि:शुल्क थी। किसी भी वर्ग का व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर सकता था। शिक्षा प्राप्ति को 'ऋषि ऋण' से मुक्ति माना जाता था। पी. एन. प्रभु ने लिखा है :- "हिंदू बालक की शिक्षा आर्थिक स्थिति पर कभी निर्भर नहीं करती थी। विद्या मंदिर के द्वार राजकुमार तथा दरिद्र सभी के लिए खुले थे।"

शिक्षा का प्रारंभ उपनयन संस्कार से आरंभ किया जाता था। 'उपनयन' शब्द का अर्थ है "आचार्य के समीप जाना"। उपनयन का यह संस्कार द्विजों के लिए क्रमश: 5वें, 6वें, 8वें, 11वें और 12वें वर्ष में रखा गया था। उपनयन संस्कार से पूर्व अक्सर पिता या 'द्वारकाचार्य' (छोटे बालकों को शिक्षा देने वाले) से बालक सामान्यत: वर्णमाला, लिपि, गणना आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता था। शिष्य ब्रह्मचारी होता था। ब्रह्मचारी साधारण वस्त्र,मृगछाला,मौजी,यज्ञोपवित तथा कौपीन धारण करके आचार्य के सामने जाता था तथा उसे 'ब्रह्मांजलि विधि' से प्रणाम करता था। दाँयें हाथ से दाँयें तथा बायें हाथ से बायें पद स्पर्श करके मस्तक में लगाकर गुरु को प्रणाम करना 'ब्रह्मांजलि विधि' कहलाता था। आचार्य के 'अघोष्यमो' कथन के उपरांत पाठ का आरंभ होता था। 'प्रणव' शब्द का प्रयोग अध्ययन के प्रारंभ तथा अंत में किया जाता था।

वैदिक काल में शिक्षण विधि मौखिक थी। मुद्रण के अभाव में पुस्तकें और विद्यालय संभव नहीं थे। शिष्यों को मौखिक

शिक्षा दी जाती थी। इसी कारण सभी मंत्र छन्दात्मक अधिक हैं क्योंकि पद्य याद रखने में सुविधा अधिक होती थी। गुरु शिष्य को, शिष्य प्रशिष्य को शिक्षा देता था जिससे गुरु परंपरा का उदय होता है। सभी शिष्यों को ऋचाएँ कंठाग्र होती थी। वैदिक शिक्षा संपत्ति की भाँति पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाती थी और इसलिए वह कुछ कुलों में सुरक्षित भी थी जो शिक्षा के केंद्र थे। इन्हीं कुलों में वैदिक परंपरा के अनुसार शिक्षा देने का कार्य भी होता था। विद्यार्थी का ज्ञान आगमकाल, स्वाध्याय, प्रवचन तथा व्यवहार से बढ़ता था। यही कारण है कि ऐसा कहा जाता है कि विद्यार्थी को एक चौथाई आचार्य से, एक चौथाई अपनी बुद्धि से, एक चौथाई विद्यार्थियों के संपर्क से तथा शेष ज्ञान जीवन के विभिन्न अनुभवों से प्राप्त करना चाहिए।

ब्राह्मण बालकों को चारो वेद, वेदांग, पुराण, उपनिषद, व्याकरण आदि पढ़ना अनिवार्य था। क्षत्रिय बालकों को वेदों का सामान्य अध्ययन कराया जाता था, अन्य विषयों पर अधिक जोर दिया जाता था। मिलिन्द पन्हों के अनुसार, क्षत्रिय बालक 18 कला और विज्ञान में पंडित होता था। उन दिनों सांरण्य योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन गणित, गान्धर्व विद्या, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष, माया, युद्ध सम्बन्धी विज्ञान, मुद्रा, श्रुति, स्मृति आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। 'दिव्यावदान' के अनुसार क्षत्रिय बालक के लिए सैनिक शिक्षा परमआवश्यक थी। सैनिक शिक्षा में हाथी तथा घोड़े की सवारी, धनुर्विद्या, पास तोलर सीखना अनिवार्य था। वैश्य बालकों को लिपि, गणना, मुद्राएँ, ऋण, ब्याज, खरीद-बिक्री, न्यास, निक्षेप तथा वस्तुपरीक्षा की शिक्षा दी जाती थी। शूद्र बालकों को वेदों की शिक्षा नहीं दी जाती थी।

याज्ञवल्क्य ने नैष्ठिक ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जो जीवनभर ब्रह्मचारी के रूप में अपने गुरु के यहाँ रहते थे। गुरु की अनुपस्थिति में उसके पुत्र और स्त्री अथवा अग्नि के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। महाभाष्य में ऐसे छात्रों का उल्लेख है जो गुरु के पास स्थायी रूप से नहीं रहते थे, विभिन्न जगहों पर भ्रमण कर शिक्षा प्राप्त करते थे उन्हें 'तिर्थकाक' (कौवे के समान मँडराने वाला) कहा जाता था। गुरु के पास स्थायी रूप से रहकर पढ़ने वाले शिष्य 'अन्तेवासिन' तथा शिक्षक 'अन्तेगुरु' कहलाते थे। केवल वेद का अध्ययन करने वाले 'माणविक' कहलाते थे।

उच्चारण की शुद्धता पर अधिक जोर दिया जाता था। एक ऐसा भी समय आया जब व्याकरण के नियमों की जटिलता के कारण उसे पढ़ना निरर्थक माना जाने लगा। कहा गया –"अनर्थकं व्याकरणं" किन्तु, उससे विद्यार्थोयों का स्तर घटने लगा और इसकी पूर्ति के लिए महाभाष्य की रचना की गई। 'पाणिनी' ने लिखा है – शुद्ध पाठ करने वाले छात्र को 'साध्वध्यामिन', सुस्त ढंग से पाठ करने वाले को 'विलम्बध्यामिन' तथा सुरीली आवाज में पाठ करने वाले को 'कोकिलाभीण्याहारी' कहा जाता था। उस समय शिष्यों का मानसिक स्तर पर वर्गीकरण होता था। 'सायण' ने 'महाप्रज्ञ', 'मध्यमप्रज्ञ' तथा 'अल्पप्रज्ञ' तीन प्रकार के विद्यार्थियों का विवेचना किया है। 'पतंजलि' ने अशुद्ध उच्चारण के लिए शिष्य को दण्ड देने का उल्लेख किया है। उस समय जो बालक उच्चारण में जितनी अशुद्धियाँ करता था उन्हें उतना ही पीछे स्थान दिया जाता था। एक अशुद्धि करने वाले 'एकान्यिक', दो अशुद्धि करने वाले 'दैयान्यिक', तीन अशुद्धि करने वाले 'त्रैयान्यिक' तथा दर्जन अशुद्धि करने वाले 'द्वादशान्यिक' कहलाते थे। 'पतंजलि' के अनुसार एक ही बार में मंत्र का उच्चारण करके याद करलेने वाले 'समपाठं पठति' कहलाते थे। आचार्य शिष्य को सुहृद भाव से शिक्षा प्रारंभ करते थे। ओम कहकर राम से उच्चारण का कार्य आरंभ किया जाता था। उस समय परीक्षा भी होती थी।

'पतंजलि' के अनुसार वसंत काल से शिक्षा का आरंभ होता था। अधिकतर दिन में छात्र अध्ययन करते थे। छोटे बालकों को पढ़ाने वाले 'द्वारकाचार्य' कहलाते थे जो बालकों को संख्या, लिपि, गणना आदि सिखाते थे। यह शिक्षा 'लेखाशाला' अथवा 'लिपिशाला' में दी जाती थी। लिखने की तख्ती को (चन्दन की लकड़ी का) 'लिपिफलक', दावात को 'मसीपिण्ड' तथा कलम को 'तिरक' कहते थे।

शिष्यों द्वारा आज्ञा को अवहेलना करने पर उन्हें दंडित भी किया जाता था। 'पाणिनी' और 'पतंजलि' ने उल्लेख किया है :- केवल भोजन के लिए गुरु के यहाँ रहने वाले शिष्य 'ओदन पाणिनीय' कहलाते थे। ये केवल चावल खाने के लिए व्याकरण पढते थे। एक थे 'कम्बलचारिणीय' ये केवल कम्बल के लिए व्याकरण पढते थे। प्रखर बुद्धि वाले बालक को 'अग्निमणिक्क' कहा गया है। क्रूर प्रकृति वाले बालकों को 'जटिल' कहा गया है। जटिल स्वभाव वाले शिक्षक 'दारुनाध्यापक' कहे जाते थे।

प्राचीन काल में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अत्यंत पवित्र, आत्मीय, समर्पण और निकट का था। दोनों के सम्बन्ध अति मधुर थे। जिस तरह कोई पिता अपना धन आदि पुत्र को समर्पित कर देता है उसी प्रकार गुरु अपना सम्पूर्ण ज्ञान और तप शिष्य को समर्पित कर देते थे। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तरह सम्मानित और आदरणीय माना गया था। स्मृतियों में शिष्य को यह आदेश दिया गया है कि वह गुरु की सेवा तथा अर्चना करे जिससे कि उसे सम्पूर्ण विद्या प्राप्त हो सके। 'मनु' का कहना है कि शिष्य को गुरु की सेवा मात्र अध्ययन के समय तक ही नहीं बल्कि अध्ययन काल समाप्त होने के बाद भी करनी चाहिए। अपने हाथों में भिक्षा का पात्र लेकर शिष्य गुरु के लिए अन्न तथा अन्य चीजों के लिए भीख माँगता था तथा उसको जो कुछ भी भिक्षा में प्राप्त होता था उसे वह गुरु को अर्पित कर देता था। 'याज्ञवल्क्य' के अनुसार, शिष्य के लिए कृतज्ञता, अद्वैषभाव, शुद्ध विचार, सच्चाई, शांति स्वभाव तथा दया आदि भावनाओं का होना अनिवार्य था।

गुरु भी शिष्य को पुत्रवत् मानते थे। वे भी शिष्य के हर सुख दुख में साथ निभाते थे। शिष्यों की समस्याओं का समाधान करना, उसके ज्ञान-बुद्धि का प्रयास करना, भावी जीवन के लिए तैयार करना, सर्वांगीण विकास करना, जिज्ञासा को शांत करना, उसके स्वास्थ्य तथा चरित्र का विकास करना, बीमार होने पर पिता के समान देख-रेख करना अपना कर्तव्य मानते थे। 'सुश्रुत' ने लिखा है :- "पढ़ाते समय गुरु शपथ लें कि वह विद्यार्थी से शिक्षा सम्बन्धी कोई भी बात न छिपाएगा। यदि ऐसा करेगा तो उसका विनाश हो जायेगा।" 'तैतरीय आरण्यक' में गुरु को पुरे उत्साह के साथ शिष्य को शिक्षा देने का आदेश दिया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ' में भी गुरु से कहा गया है कि पढ़ाते समय वह शिष्य से कुछ न छिपाए। 'महानाग' तथा 'मिलिंदपन्हों' में गुरु के 25 तथा शिष्य के 10 गुणों का उल्लेख किया गया है। 'दिव्यावदान' में लिखा है :- "शिक्षा या लोक संतृप्ति के लिए शिष्य गुरु के पास जाता था तथा दोनों ही स्वकर्तव्यों का पालन करते थे।"

.....